में एक नये चिन्तन की संभावना उत्पन्न होगी जो पारम्परिक विचार से सम्बन्धित तो होगी, पर उससे बँधी हुआ नहीं।

इसी प्रकार का चिन्तन जागृत, जीवन्त और प्राणवान् होगा। हमारा यह उत्तरदायित्व है कि हम इसे सब दिशाओं में आगे बढ़ाएँ। परम्परा की दो दिशाएँ होती हैं—एक भूत और एक भविष्यत्। हमें भूत की ओर देखना चाहिए कि क्या हुआ, भविष्य की ओर देखना चाहिए कि किधर जाना चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा रहे होंगे। मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि दिल्ली में सब विषयों के बारें में कौंसिलें बनी हुई हैं लेकिन वे अपने उत्तरदायित्व से बिल्कुल बेखबर प्रतीत होती हैं। आखिर राज्य तो पैसा ही दे सकता है, राज्य यह तो नहीं कह सकता कि किस दिशा में जाओ। दिशा हम बताते हैं। वे तो दिशाहीन लोग हैं।

अब दो बातें और। पहली यह कि चिन्तन के क्षेत्र में बुद्धि का स्थान क्या है, और बुद्धि का जगत् प्रत्ययों का जगत् होता है, जिसमें सारा जगत् प्रतिबिम्बित होता है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब प्रत्ययों में होने के कारण उन प्रतिबिम्बों से भिन्न होते हैं जो हमें विभिन्न कलाओं में मिलते हैं। दूसरी ओर क्योंकि मनुष्य की बुद्धि एक आत्मचेतन प्राणी की बुद्धि है इसलिए वह स्वयं चिन्तन-प्रक्रिया को चिन्तन का विषय बनाती है और कुछ दूसरे स्तर के अन्य प्रत्ययों द्वारा इस सारी प्रथम स्तर की प्रत्यय-प्रक्रिया को पकड़ने की चेष्टा करती है।

आत्मचिन्तन की यही बौद्धिक प्रक्रिया है जिसमें चिन्तन स्वयं अपने को विषय रूप में देखता है, अनेकानेक रूप में देखता है, तब वह अपने को कैसे देखता है? कैसे आगे देखेगा? यह वास्तव में हमारी परम्परा का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है।

❑

भारत की बौद्धिक परम्पराएँ और उनका भविष्य

विचार का मूल बुद्धि है और बुद्धि के बारे में अगर हम परम्परागत में विचार करें तो उसका सात्विक, तामसिक और राजसिक रूप में विभाजन किया जा सकता है। यही नहीं, बुद्धि के और अनेक भेद किये जा सकते हैं। बुद्धि के सात्विक, राजसिक, तामसिक भेद अपने आप में अपूर्ण हैं, परन्तु प्रश्न यह था कि बुद्धि का जो प्रयोग है, वह अच्छे-बुरे रूप में कैसे होता है? अगर परम्परा से ही हम इसका उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा करें तो हम पाएंगे कि मनुष्य का कर्म वासना से परिचालित होता है। बुद्धि का कर्म से सम्बन्ध क्या है? देखिए, अपने यहाँ ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध की बहुत चर्चा हुई है–क्यों हुई है, उसका दूसरा आयाम है लेकिन मैं इस समय केवल यह कहना चाहूँगा कि जहाँ तक अच्छे-बुरे के भेद का सवाल है, हालांकि वह संस्कृति में होता है लेकिन जैसे ही धर्मशास्त्रों की रचना होती है वहाँ अच्छे-बुरे का भेद भिन्न प्रकार से होने लगता है। जैसा कि मैंने कहा था कि जैसे ही शास्त्र की रचना होती है, वैसे ही देशी और मार्गों का भेद बनता है, इसी प्रकार अच्छे-बुरे का भेद भी एक नया रूप लेता है। कला के क्षेत्र में यह एक रूप लेता है और कर्म और विचार के क्षेत्र में दूसरा। समस्या के दो अलग-अलग पहलू हैं–एक का कर्म से सम्बन्ध है और दूसरे का बुद्धि से। दोनों क्षेत्रों की अपनी स्वतंत्रता है, स्वायत्तता है–पर प्रश्न यह है कि वे कैसे परिचालित होते हैं? और उनका एक दूसरे से क्या सम्बन्ध है। एक ओर वे यथार्थ से परिचालित होते हैं, दूसरी ओर मूल्य या आदर्शों या मानदण्डों से हमारी चेतना अधिकतर स्व-केन्द्रित है और वासना से परिचालित होती है। वासना के भी अनेक रूप हैं और अधिकतर यह वासना स्वार्थ-केन्द्रित होती है और इसीलिए बुद्धि का उपयोग मनुष्य स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही करता है। इस सन्दर्भ में 'अनादि वासना' की बात भी की गई है पर वह इस प्रसंग में अवांतर ही है। यहाँ तो केवल यह समझने की बात है कि चेतना पर-केन्द्रित भी हो सकती है और परार्थ केन्द्रित भी और जब वह ऐसी होती है तब वह बुद्धि का उपयोग भी अन्य के हित के लिए करती है। इसी से 'कर्त्तव्यता' की भावना का जन्म होता है। इस तरह ध्यान से देखें तो आपके प्रश्न के अनेक आयाम हैं, लेकिन जहाँ तक बुद्धि और कर्म के सम्बन्ध का प्रश्न है, यही आयाम मूलभूत प्रश्न है। मैं समझता हूँ कि बुद्धि अगर निस्संग नहीं है तो वह जिस कर्म को जन्म देगी वह स्वार्थ केन्द्रित कर्म होगा। वास्तव में हम लोगों

की बुद्धि निस्संग नहीं होती, क्यों नहीं होती? निस्संग बुद्धि का जो विचार है, प्रत्यय है, उस पर स्वयं विचार नहीं किया गया कि मेरी बुद्धि किस प्रकार से निस्संग हो, जो विषयवस्तु है, मेरी बुद्धि किस प्रकार से उसके अनुरूप बने। अभी मैंने अपने भाषण में कहा था कि सत्य सार्वभौम है। सत्य की खोज ऐसी चीज की खोज है जिसे हम सार्वभौम, सार्वदेशिक और सार्वकालिक मानते हैं। वह मिलती है या नहीं मिलती, यह प्रश्न अलग है। इस संदर्भ में एक समस्या उठती है जिस पर मैंने चर्चा नहीं की है लेकिन इस बात पर सोचना चाहिए कि संसार में विभिन्न संस्कृतियाँ हैं, उनमें कुछ बड़ी संस्कृतियाँ हैं, जैसे चीन की संस्कृति है। चीन की संस्कृति हमसे भी कुछ अधिक पुरानी है। उसका एक स्वतन्त्र इतिहास है। पश्चिम की संस्कृति अपना मूल ग्रीस को मानती है और उनका भी एक इतिहास है। हालांकि यह जरूरी नहीं है कि ग्रीस केवल पश्चिमी संस्कृति का ही एक अंग माना जाए पर पश्चिम के इतिहासकारों ने उसको इसी रूप में लिया है। हालांकि उन्हें पता है कि ग्रीस सभ्यता ने अरब संस्कृति को बहुत प्रभावित किया था। पश्चिमी एशिया या इस्लामिक देशों की भी अपनी अलग संस्कृति है। अफ्रीकी देशों के बारे में यह समस्या जरूर है कि उनकी अलग संस्कृति मानी जाए या नहीं क्योंकि जहाँ तक हमें पता है उनके यहाँ शास्त्रों की रचना नहीं हुई है।

अब प्रश्न है कि प्रत्यय की जो सार्वभौमिकता है, जिसकी हम खोज कर रहे हैं, उन विचारों की कोटियों के द्वारा, उन प्रत्ययों के द्वारा हम वह पकड़ने की चेष्टा कर रहे हैं जो इन परम्पराओं में ढाई-तीन हजार साल में विकसित हुआ है, उस सार्वभौमिकता की जो विशिष्ट कोटियाँ हैं, उन्हें आप पकड़ सकते हैं, यह स्वयं में बुद्धि का एक कार्य है। वास्तव में जो लोग आज के चिन्तन को जानते हैं उन्हें पता है कि कौन सी समस्याएँ पश्चिम के सामने स्वयं जीवन्त हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि मनुष्य का विचार समाज की विशेष परिस्थितियों से अनिवार्य रूप से जुड़ा होता है। अंग्रेजी में इसे 'सोश्योलौजी ऑफ नोलेज' कहते हैं, उनके लिए ज्ञान का अपना कोई स्वत्व नहीं है। वह तो केवल साधन मात्र है–व्यक्ति के समष्टि के स्वार्थ को सिद्धि करने का। यही नहीं आज का नवीनतम विचार उसे Post Modernism कहते हैं। वह तो सत्य के प्रत्यय को ही नहीं मानता। जैसा हमारे यहाँ बौद्धिक परम्परा में कहा जाता है–नि:स्वत्व–जिसका कोई 'असैंस'नहीं है, जिसका कोई स्वरूप नहीं है। आज का जो अत्याधुनिक विचार है, वह अपने को स्वरूप-शून्य मानता है। फिर स्वरूप-शून्य विचार के बारे में चर्चा कैसे की जाए। आज विचार को अनिवार्य रूप में समाजगत और संस्कृतिगत माना जाता है। यही नहीं, अगर आप मार्क्स के विचार को लें तो उसके अनुसार जब तक विचार स्वयं ऐसा वर्गहीन समाज नहीं बनेगा, तब तक निस्संग बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। मेरे कहने का आशय यह है कि यह समस्या एक व्यापक समस्या है और इसके कई रूप हैं। इतना जरूर है कि यदि आप बुद्धि के क्षेत्र में हैं, ज्ञान के क्षेत्र में हैं तो आप इतना जरूर कहते हैं कि हम सत्य का दावा करते हैं।

कोई बताए कि यह असत्य क्यों है। जैसे हमारे यहाँ पहले पूर्व पक्ष को प्रस्तुत करते हैं और फिर सिद्धांत को स्थापित करते हैं, उसके बाद यदि कोई उस सिद्धांत का खण्डन करता है तो हम उसका उत्तर देते हैं, वरना यह स्वीकार करते हैं कि हम अपने सिद्धान्त में परिवर्तन करेंगे।

इस समस्या का एक तीसरा पक्ष भी है, जहाँ तक मेरी समझ में आया है वह यह है कि ठीक या गलत क्या है, उचित या अनुचित क्या है। इस संदर्भ में दो भेद करने आवश्यक हैं लेकिन दो विभेद तो करने ही चाहिएँ। एक यह कि किसी पुस्तक में क्या कहा गया है और दूसरा यह कि जो कहा गया है वह मेरी बुद्धि के अनुसार ठीक है या गलत और अगर मैं उसे गलत मानता हूँ तो मेरे ऊपर यह उत्तरदायित्व है कि मैं वो बौद्धिक युक्ति प्रस्तुत करूँ जिसके आधार पर मैं उसे गलत मानता हूँ। ऐसा कहने के दो आयाम हो सकते हैं। एक तो यह कि जो कहा गया है वह अपूर्ण है और दूसरा यह कि वह अपूर्ण ही नहीं गलत भी है। पहले आयाम में यह कहा जाता है कि जो बात कही गई थी वह पूरी नहीं थी और उसके अन्य पक्ष भी प्रस्तुत किए जाने चाहिए या उसे आगे बढ़ाना चाहिए। जहाँ तक दूसरे आयाम का प्रश्न है उसमें हम उस चिन्तन में दोष निकालते हैं या गलती को बताने की कोशिश करते हैं पर चिन्तन की सार्थकता केवल दोष की तलाश कर लेने भर में नहीं है। ज्ञान की या चिन्तन की सार्थकता को दो तरीके से मैं कहता हूँ इनमें एक सत्य की बात होती है। लेकिन एक बात और होती है–सार्थकता की। वह चिन्तन सार्थक है जो नई दिशा को खोलता है चिन्तन भी दो तरह का होता है। एक चिन्तन बहुत अच्छा है लेकिन वह दरवाजे बन्द करता है, वह आपको आगे सोचने के लिए प्रेरित नहीं करता। उसके पास सब सवालों के जवाब हैं। एक दूसरे प्रकार चिन्तन होता है जो दिशाएँ खोलता है, जो आपको स्वतन्त्रता देता है कि आप इधर जाओ या उधर जाओ। हम विचार करें कि कितना मामला खोज के लिए पड़ा हुआ है। चिन्तन की सार्थकता मैं इस बात में मानता हूँ कि वह नए प्रश्नों को जन्म दे, एसे प्रश्नों को जो पहले से नहीं उठे हैं, नई समस्याएँ उठाएँ, जो पहले नहीं देखी गईं, यानि उसमें दूसरों को देने के लिए कुछ होना चाहिए ताकि आगे हम नई पीढ़ियों को कह सकें कि तुम आगे बढ़ो। इस प्रकार से सोचा जा सकता है।

दूसरी बात शायद आपने वेदों के बारे में कही थी। पहले हमें देखना है कि वेद क्या है, क्योंकि बहुत तरह से लोग वेद शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन पहले हमें देखना है कि वेद क्या हैं? क्या वे संहिता हैं, ब्राह्मण हैं, आरण्यक हैं, उपनिषद हैं। उपनिषद् तेरहवीं शताब्दी तक लिखे गए हैं लेकिन उनमें क्या है? यदि ऐसा कहते हैं कि उनमें सब कुछ है तो सब कुछ का मतलब क्या है? आखिर कोई शब्द विचार नहीं होता। ऐसा लगता है कि विचार से हम सब लोग विलग हो गए हैं तभी सब कुछ शब्द का प्रयोग करते हैं और उसका अर्थ भी नहीं पूछते कि सब कुछ का क्या अर्थ है? सब कुछ होने का मतलब ऐसा भी है, जैसा निर्मल जी कहते हैं कि यह एक

लक्षण है, एक व्यंजन है, लेकिन यहाँ सब कुछ का मतलब सब कुछ नहीं है। इसे हमें अभिधा के रूप में नहीं लेना चाहिए, बल्कि आदर के रूप में, क्योंकि आप महान् हैं, सब कुछ जानते हैं, कोई सब कुछ नहीं जानता, सीधी बात है। हम कहते हैं कि उस तरह की बात है। जरा सोचिए तो सही, मैं इतना आश्चर्यचकित रहता हूँ क्योंकि सबको पता है कि नारद जी ने शब्द पुराण में क्या कहा था, उपनिषदों में क्या कहा गया है–मैंने चारों वेद पढ़ लिए हैं, सारी विधाएं पढ़ ली हैं लेकिन फिर भी शांति नहीं मिली–क्यों नहीं मिली-उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि शांति मिलेगी कैसे, क्योंकि अपरा-परा का विभेद नहीं किया। वेद अपरा वस्तु है। अगर उपनिषद् को वेद का भाग मानते हैं तो उपनिषद् स्वयं कहते हैं कि वेद अपरा है और वे स्वयं परा हैं। इसलिए परा और अपरा को भी देखना चाहिए। इसके बीसियों उदाहरण दिए जा सकते हैं। यह वास्तव में उन लोगों की बातें हैं जो ग्रन्थों से अपरिचित हैं, जो ग्रन्थों के अंशों की बात ही नहीं करना चाहते जिससे कि परम्परा के प्रति कुछ संशय उत्पन्न हो।

कल मैं आपको बताऊंगा कि नए शास्त्र का प्रारम्भ कैसे होता है–''प्रमाणश्य प्रमेय संशयः'' – और गीता में कहा है– ''संशयात्मा विनश्यति'' – बुद्धि का रूप यह है कि वह संशय करती है, वह प्रश्न उठाती है। अगर संशय नहीं है तो प्रमाण-प्रमेय व्याप्त नहीं हो सकता और यदि कोई कहता है कि ''संशयात्मा विनश्यति'' तो ठीक है, हमें कोई डर नहीं लगता कि यह 'विनश्यति' क्या है। इसलिए कहने के लिए सुनने के लिए और बात करने के लिए बहुत-कुछ है। कभी फिर मौका मिलेगा तो कहूँगा।

द्वितीय व्याख्यान

मैंने आपके सामने यह कहने की कोशिश की थी कि संस्कृति में जब शास्त्र की रचना होती है तब उसमें एक मूलभूत परिवर्तन आता है। वह मूलभूत परिवर्तन इस प्रकार से समझा जा सकता है कि तब बुद्धि उसके केन्द्र में स्थापित होती है, बुद्धि सारे जगत् को देखती है, उस जगत् को देखती है जिसकी रचना मनुष्य ने की है। संस्कृति का एक स्तर मनुष्य की रचना का स्तर है। अनेकानेक क्षेत्रों में मनुष्य अपना कृतित्व करता है लेकिन जब आत्मचिन्तन में सब को देखता है तो वह सब विषय-रूप में उपस्थित होता है और जब उस पर चिन्तन करता है तब उसके अलग-अलग क्षेत्रों का शास्त्र बनता है। उस समय मैंने यह कहने की कोशिश की थी कि एक नये युग का प्रारम्भ होता है, जिसे सभ्यता कह सकते हैं, जिसे अंग्रेजी में 'सिविलाईजेशन' कहा जा सकता है। आप इस परिवर्तन के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग कर सकते हैं इससे संस्कृति का एक नया स्तर, एक नया आयाम खुलता है और वह नई परम्परा को जन्म देता है, जो बौद्धिक परम्परा होती है। उसमें संस्कृति अपने को समझने की चेष्टा करती है, सतत् रूप से समझती है और जिस प्रकार से मनुष्य की अपनी समझ है, आप जिसे अस्मिता कहते हैं, उस अस्मिता की खोज और संस्कृति की अस्मिता

की खोज दोनों जुड़ जाते हैं। संस्कृति की अस्मिता कभी समाप्त नहीं होती है, वह एक चिरन्तन जैसी चीज है, या प्रक्रिया है जिसमें वह बनती रहती है, बदलती रहती है। उसी प्रकार से जो मनुष्य होता है, वह चूँकि संस्कृति का अभिन्न अंग है इसलिए उसकी अस्मिता बनती रहती है, बदलती रहती है, बढ़ती रहती है। यही मैं कहने की चेष्टा कर रहा हूँ कि वास्तव में संस्कृति की जो पहचान है, वह कोई ऐसी नहीं है जिसे आप एकदम पकड़ सकते हैं। वह कोई ऐसी चीज भी नहीं है जो एकदम समाप्त हो जाती है। संस्कृति स्वयं अपने को खोजती है, जैसे मनुष्य अपने को खोजता है और यह प्रक्रिया काल में अनन्त है। परन्तु अगर यह काल में अनन्त है तो हमको परम्परा से जो प्राप्त होता है, उसके प्रति हमारा क्या उत्तरदायित्व है, वही कहने की मैंने चेष्टा की थी।

आज मैं आपके सामने कुछ ऐसी बातें कहना चाहता हूँ जो काफी मुश्किल हैं, क्योंकि उसके दो पक्ष हैं–एक पक्ष यह है कि अपनी परम्परा का जो बौद्धिक विस्तार है उसके अनेकानेक आयाम हैं। उनमें जो कुछ उपलब्धियाँ हैं, मैं उनकी चर्चा करना चाहता हूँ। दूसरी बात जो मैं कहना चाहता हूँ वह यह कि आपके सामने करके दिखाऊँ कि उसमें कैसे परिवर्द्धन हो सकता है, उसे हम कैसे भिन्न दिशाओं में ले जा सकते हैं। ये दो भिन्न दिशाएं हैं जिनमें से एक भूत काल की ओर देखती है, पीछे की ओर देखने की दृष्टि है और दूसरी आगे की ओर देखने की दृष्टि है। इन दोनों को कैसे समन्वित रूप में आपके सामने रखूँ, यह मैं कोशिश करूँगा। यह विडम्बना तो है, मैं लेकिन यह कार्य करने की कोशिश करूँगा। कुछ भी कहने से पहले यह जो कोशिश है, अगर यह कोशिश जरा-सी भी ठीक है, तो अगर कोई उठकर यह सवाल उठाए कि आप जो कह रहे हैं, वह ग्रन्थों के अनुरूप नहीं है, परम्परा में इसको इस प्रकार से नहीं समझा गया है तो जो बात मैं कहने की चेष्टा कर रहा हूँ, उसे न समझकर ही वह ऐसा कहेगा, क्योंकि जैसा मैंने भी कहा था, ये दो अलग-अलग सवाल हैं कि अब तक इस बात को कैसे समझा गया है और अब हमें इसे कैसे समझना चाहिये? ऐसा नहीं है कि पूर्व में इस प्रकार की बातें नहीं हुई हैं। कल मैंने इशारा किया था कि गीता के जो रचयिता हैं, जो विचारक हैं, हम कहते हैं, जिन्हें हम स्वयं भगवान के रूप में मानते हैं लेकिन उनका यज्ञ के बारे में जो चिन्तन है, वह क्या वही है जो जैमिनी का था या जो मीमांसकों का था। वेदों के बारे में जो गीता में कहा गया है वो क्या और भी कोई कह सकता है ''कामात्मनः स्वर्गपरा जन्म कर्म फलप्रदाम्, क्रिया विशेष बहुलाम भोगै स्वरे गतिम्प्रति'' सब जानते हैं, मगर जानकर भी नजर-अंदाज करते हैं लेकिन वही कृष्ण यज्ञ के बारे में कहते हैं कि मुझे याद नहीं आ रहा है लेकिन यज्ञ का प्रारम्भ यज्ञ की सृष्टि के साथ ही होता है। यज्ञ के अनेक आयाम हैं, नई दिशाएँ हैं जिन्हें परम्परा में खोजा गया है। दूसरे कई प्रत्ययों की चर्चा भी मैं कर सकता हूँ। जब हम परम्परा पर दृष्टिपात करते हैं तो हम उसको इस प्रकार से देखते हैं जैसे मानो वह एक ही तरह की है और जैसे उसमें ढ़ाई हजार साल से

कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, जबकि उसमें विशाल परिवर्तन हुआ है, एक के बाद एक चिन्तक आए हैं और उन्होंने उसमें परिवर्तन किया है। इसमें उन लोगों को कोई परेशानी नहीं होती थी यह कहने में कि पहले जो कहा गया था वह गलत है उसे इस प्रकार से देखना चाहिए, पर आज हमें इसमें परेशानी क्यों होती है? हम भी उसी प्रकार के चिन्तक क्यों नहीं बनते जैसे हमारे पूर्वज थे? वास्तव में अगर हमको परम्परा को बढ़ाना है तो हमें उसी प्रकार का व्यक्ति बनना पड़ेगा। जैसे हमारे पूर्वज थे। परम्परा के प्रति आदर, उसका ज्ञान और अपने में यह शक्ति महसूस करना कि हम इससे आगे जा सकते हैं, इसके नए आयाम खोल सकते हैं और दूसरों के लिए कुछ नया रास्ता दिखा सकते हैं।

अब सवाल है कि कहाँ से शुरु करें, किस प्रत्यय को लें? क्योंकि प्रत्ययों का एक जगत् होता है, प्रत्ययों में एक परस्पर संबंध होता है। किसी एक प्रत्यय को उठाइए, किसी एक विचार को उठाइए तो ऐसा नहीं होता कि उसके साथ अन्य विचार जुड़े नहीं होते। इस थोड़े से समय में मैं आपको किस प्रकार से समझाऊँ, किस प्रकार से दिखाऊँ कि हमारी परम्परा में विचार का कितना वैभव है और इस वैभव में हम कितना और जोड़ सकते हैं? ऐसा करने की चेष्टा में अगर मैं थोड़ा भी सफल हो पाता हूँ तो मैं समझूँगा कि मेरे ये व्याख्यान सफल रहे हैं।

मनुष्य क्या है? समाज क्या है? राज्य क्या है? हमेशा आदमी ने इसके बारे में सोचा है। बुद्धि सबको देखती है और यह भी पूछती है कि वह स्वयं क्या है, यह सोचने की प्रक्रिया क्या है? मनुष्य क्या है–जब इस पर लोगों ने सोचा तो क्या कहा? आप सबको पता है कि ग्रीस में मनुष्य की परिभाषा दो प्रकार से की गई थी। अरस्तू की परिभाषा को दो रूप में रखा गया है। एक यह कि मनुष्य सामाजिक या राजनीतिक प्राणी है और दूसरा यह कि मनुष्य ऐसा प्राणी है जिसके पास बुद्धि भी है। मैं इस बात को दूसरी तरह कहूँगा, उसके चिन्तन के अनुसार मनुष्य बुद्धिनिष्ठ प्राणी है। इसलिए किसी भी संस्कृति को समझने के लिए उसके बौद्धिक-केन्द्र को देखना चाहिए। परन्तु भारतीय संस्कृति ने मनुष्य को इस प्रकार से नहीं देखा–फिर कैसे देखा? सबको पता है कि हमारे यहाँ मनुष्य का भेद अन्य प्राणियों से नहीं किया गया, धर्म के आधार पर किया गया– ''धर्मोहि तेषामहि विशेष: अधिको विशेष: धर्मेण हीना: पशुभि समाना'' – धर्म के बारे में अनन्त चिन्तन हुआ है लेकिन इस चिन्तन का पहला सूत्र देखिए–धर्म वह है जो प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं जाना जा सकता वह बुद्धि के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता क्योंकि बुद्धि का आधार प्रत्यक्ष या अनुमान ही होता है। सब-कुछ हम कैसे जानते हैं? अगर धर्म मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण है, जो मनुष्य को सारे प्राणीमात्र से अलग करता है तो इसका ज्ञान कैसे हो–किं कर्त्तव्यम् क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? क्या उचित है और क्या अनुचित है? इसका ज्ञान कैसे होता है? सबको पता है कि मीमांसा सूत्र में जैमिनी ने कहा है कि यह ज्ञान न प्रत्यक्ष होता है और न अनुमान से होता है। अगर ऐसा है तो तब हमें

यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य में कोई ऐसी शक्ति है जो प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है, जिसके द्वारा उसे धर्म का ज्ञान होता है किन्तु यह सब जैमिनी ने नहीं कहा, बल्कि जैमिनी ने तो यह कहा कि यह ज्ञान श्रुति से होता है।

अब प्रश्न है कि श्रुति क्या है? श्रुति अपौरुषेय है, श्रुति अनादि है ऐसा मानने की क्यों आवश्यकता हुई? इन सब विचारो में, मैं यहाँ नहीं जाऊँगा। मैं इस वक्त आपको सिर्फ इतना बताना चाहता हूँ कि अगर हम यह मान लेते हैं कि मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण धर्म है और धर्म का कर्म से सम्बन्ध है तो तब के बारे में हमारी दृष्टि मनुष्य कर्म-प्रधान बनती है। पर अगर हम अपने यहाँ की ज्ञान केन्द्रित परम्परा पर विचार करें तो लगेगा कि कर्म किसी बंधन का कारण है। इसलिए उसके अनुसार कर्म निष्काम होना चाहिए तभी वह बन्धन का कारण नहीं बनेगा पर जिन लोगों ने यह कहा उन्होंने यह नहीं सोचा कि अगर यह मान भी लें कि निष्काम कर्म मेरे बन्धन का कारण नहीं होता तब भी यह कैसे निष्कर्ष निकलेगा कि वह 'अन्य' के बन्धन का कारण नहीं बनेगा।

मनुष्य जब अपने को समझने की चेष्टा करता है तो अपने को विषय-रूप में पाता है–वह आत्मचेतन प्राणी है–विषय-रूप में देखने पर वह अपने को शरीर पाता है, मन पाता है, इन्द्रियाँ पाता है। उसके सामने समस्या यह उत्पन्न होती है कि चेतना का विषय जो है, उसका चेतना से तादात्म्य नहीं हो सकता, परन्तु वह अपने को उससे विलग भी नहीं मान सकता। शरीर मेरे लिए विषय-रूप है लेकिन क्या मैं यह सोच सकता हूँ कि यह शरीर मेरा नहीं है? संकल्प से शरीर संचालित होता है तो शरीर मैं हूँ भी और नहीं भी हूँ। इसी प्रकार से चेतना का एक स्तर बनता है जहाँ व्यक्ति स्वयं विषय रूप में उपस्थित होता है और उसके सामने यह समस्या उत्पन्न होती है कि जो विषय-रूप में उपस्थित है वह एक प्रकार से तो वह स्वयं है, पर चूंकि वह उसे अपने से अलग 'विषय-रूप' में पाता है, इसलिए वह अपने को पूर्ण रूप में वैसा कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। अब आप देखिए कि कैसी विडम्बना है कि विचार कहाँ ले जाता है–एक ऐसे तादात्म्य की ओर ले जाता है, मनुष्य को एक ऐसे स्तर की ओर ले जाता है, जहाँ वह अपने को ऐसी स्थिति में पाता है कि मैं यह हूँ और नहीं भी हूँ। दो अंशों में वह है भी और नहीं भी है–एक आयाम वह है जिसके बारे में हमें शुद्ध बौद्धिक दृष्टि से कहना पड़ता है कि वह है भी और नहीं भी। क्योंकि जो विषय-रूप में उपस्थित होता है, वही यह कहता है कि वास्तव में विषय-रूप नहीं है कुछ और है। पर यह एक बिल्कुल शुद्ध बौद्धिक बात होते हुए भी हमारी अनुभूति का विषय भी होती है क्योंकि जो मैं 'विषय-रूप' उसका मैं अनुभव करता हूँ और ऐसा अनुभव करता हूँ कि यह मुझसे विलग है। लेकिन वह एक प्रकार से विलग है भी और नहीं भी है। इस अनुभव का दूसरा आयाम भी है जहाँ एक साथ हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ वह है भी और नहीं भी। लेकिन वह और तरह का है। यह

विषय के वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। बल्कि यह उससे कुछ भिन्न प्रकार का है।

मैं जिस मनुष्य की खोज कर रहा हूँ, परम्परा में उसका चिन्तन हुआ है। जब मैं स्वयं उस पर चिन्तन करता हूँ तो पाता हूँ कि बड़ी अजीब बात है, क्योंकि मैं अपने बारे में जो जानना चाहता हूँ–'आत्मनम्विद्धि' को पाण्डेयजी ने परम्परा के एक मूल स्वर के रूप में देखा है। पर जब मैं जानने की कोशिश करता हूँ–तब मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं शरीर हूँ और नहीं भी हूँ। क्या शरीर वैसा है जैसा इसे होना चाहिए? रोज हमारे मन में अनेकानेक विचार उठते हैं, इच्छाएँ उठती हैं, वासनाएँ उठती हैं, कोई विचार अच्छे होते हैं, कुछ खराब भी होते हैं और ऐसा लगता है कि क्या वह सब कुछ सही है जो मेरे मन में उठ रहा है–मैं ऐसा नहीं हो सकता, मुझे ऐसा नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार से जो अनेकानेक स्तर हैं, उनके बारे में मुझे दो अलग-अलग प्रकार की एक साथ अनुभूति होती दिखाई देती है–एक यह है कि मैं हूँ, नहीं भी हूँ और दूसरा यह है कि जैसा इसे होना चाहिए वैसा नहीं हूँ। तब मैं क्या करूं तब मेरे सामने दो प्रकार के कर्म, दो प्रकार के उत्तरदायित्व, भिन्न प्रकार की कर्त्तव्यताएँ प्रकट होती हैं–एक यह कि मैं इसे ऐसा बनाऊँ जैसा इसे होना चाहिए और दूसरा यह कि मैं इससे तादात्म्य हटाऊँ। मैं इससे जो ऐसा समझ रहा हूँ कि यह मैं हूँ, मैं वास्तव में इससे अलग हूँ, विलग हूँ और पूर्णरूपेण से विलग हूँ। यहाँ दो साधनाएँ आपके सामने उपस्थित होती हैं–एक साधना यह है कि जो भी पूर्णरूपेण हमारे सामने उपस्थित होता है आप उससे विलग हों, उससे तादात्म्य स्थापित न करें। यह सांख्य की साधना, कैवल्य की साधना है। दूसरी साधना वह है जो सांख्य ने नहीं सोची है लेकिन जिसे वे सोच सकते थे। वह सब वैसा नहीं हो जैसा उसे होना चाहिए और उसे वैसा होने के लिए मेरे संकल्प-कर्म की जरूरत है इसीलिए मैं उसकी अपूर्णता के लिए स्वयं उत्तरदायी हूँ। वही मेरा पुरुषार्थ है कि मैं अपने संकल्प और कर्म के द्वारा जो भी विषय-रूप में उपस्थित होता है उसको उसकी पूर्णता की ओर ले जाने में सहायक बनूँ, बाधक नहीं। पुरुषार्थ पर परम्परा में बहुत चिन्तन हुआ है क्योंकि पुरुष या व्यक्ति या मनुष्य को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक हम यह नहीं समझें कि उसका पुरुषार्थ क्या है? आप विचार कीजिए कि यह कैसी समस्या है? हमने मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण पूछा था और मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण धर्म बताया था लेकिन जब हम पुरुषार्थ की बात करते हैं तो केवल धर्म की ही बात नहीं करते, अर्थ और काम की भी बात करते हैं पर अगर अर्थ और काम मनुष्य के व्यावर्तक लक्षण नहीं है तो फिर वे मनुष्य का पुरुषार्थ कैसे हो कते हैं। यह कहा जा सकता है कि अर्थ और काम के बिना धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती इसीलिए उन्हें पुरुषार्थ माना गया है। पर ऐसा स्वीकार करने पर भी अर्थ और काम केवल साधन रूप में ही स्वीकार होंगे, साध्य रूप में नहीं लेकिन जब पुरुषार्थ की बात होती है तो साध्य की बात होती है, साधन की नहीं। इसलिए अर्थ और काम को पुरुषार्थ रूप में

मानने पर उनको मनुष्यता का अनिवार्य अंग मानना पड़ेगा, केवल धर्म को ही नहीं। क्योंकि मनुष्य तो व्यावर्तक लक्षण के रूप में धर्ममात्र है। अगर काम और अर्थ वास्तव में मनुष्य के मनुष्यत्व के लक्षण नहीं हैं तो ये उसके पशुत्व के लक्षण होंगे। फिर वे पुरुषार्थ के रूप में कैसे उपस्थित हो सकते हैं? इतने हजार सालों से लोग कहते आए हैं, सोचते आये हैं। हाँ, पुरुषार्थ क्या है–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ठीक ही कहा गया है–धर्माविरुद्ध अर्थ और काम पुरुषार्थ नहीं हैं। वह धर्म से अविरुद्ध होना चाहिए परन्तु वह फिर पुरुषार्थ कैसे हुआ? यह सवाल ही कभी नहीं उठाया गया। जैसे ही आप यह सवाल पूछेंगे तो चिन्तन का एक नया आयाम पैदा होगा कि नहीं, मैं केवल धर्म मात्र नहीं हूँ, मेरे में काम भी है वह काम किसका है, काम मेरा तो हो नहीं सकता, फिर काम कहाँ से उत्पन्न हुआ–काम का दूसरा नाम है–मनसिज-जो मन में उत्पन्न होता है। अब सवाल है कि मन का व्यावर्तक लक्षण क्या है, मन का पुरुषार्थ क्या है, शरीर का पुरुषार्थ क्या है? शरीर को इन्द्रिय रूप माना है। पर फिर उन इन्द्रियों का पुरुषार्थ क्या होगा? इन सब में एक और भेद किया गया है–वह सूक्ष्म और स्थूल का है। यह भेद सांख्य में भी किया गया है। पर जब इन्द्रियों में भेद करते हैं, तब मन के अन्दर क्यों नहीं करते? मन में भी सूक्ष्म स्थूल का भेद करना चाहिए। पर सवाल उठेगा कि सूक्ष्म मन क्या है? बुद्धि के संदर्भ में भी हमें यह भेद करना पड़ेगा, और वहाँ भी यह सवाल उठेगा कि सूक्ष्म बुद्धि क्या है और स्थूल बुद्धि क्या है? अलावा हमारे यहाँ सात्विक, राजसिक और तामसिक वृत्ति का भी भेद किया गया है। यदि ऐसा है तो फिर हमें शरीर, मन, बुद्धि आदि के बारे में सात्विक, राजसिक और तामसिक का भी भेद करना होगा और यह भेद स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही स्तर पर लागू होगा।

यह ठीक है कि शरीर, मन, बुद्धि आदि सब विषय-रूप में उपस्थित होते हैं और इसलिए मेरा उनसे तादात्म्य अविद्या या अज्ञान के कारण होता है। पर कारण कुछ भी हो, वास्तविकता तो यह है कि मैं अपने को ऐसा पाता हूँ कि मैं शरीर हूँ भी और नहीं भी। मन हूँ भी और नहीं भी। बुद्धि हूँ भी और नहीं भी। मेरी जो ऐसी अवस्था है, उसी के बारे में मुझे यह चिन्तन करना है। अब प्रश्न है कि इसके बारे में चिन्तन करना है तो कैसे करना है? इन सबके पुरुषार्थ को ढूँढ़ना है, इन सबके भेद पता लगाने हैं और यह पता करना है कि इसमें राजसिक, तामसिक और सात्विक का भेद क्या है, सात्विक बुद्धि कैसी होती है? गीता में इस विषय पर चर्चा की गई है पर वहाँ जो सात्विक ज्ञान का लक्षण बताया गया है वह वास्तव में सात्विक बुद्धि का लक्षण होना चाहिए था। सात्विक ज्ञान के बारे में गीता में कहा है कि यह ज्ञान वह है जो अनेक में एकत्व को देखता है, पर वास्तव में ये सात्विक बुद्धि का लक्षण मानना पड़ेगा कि वह अनेकता में एकता को देखती है और उस बुद्धि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान को हम सात्विक ज्ञान कह सकते हैं। पर गीता के लिखने वाले ने इस बात को इस तरह से नहीं लिखा है, उसने तो सात्विक बुद्धि का अलग लक्षण दिया है और

सात्विक ज्ञान का अलग, और दोनों के बीच कोई विशेष सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। राजसिक बुद्धि को भेद-प्रधान माना गया है, जो भेद देखती है, पर फिर तामसिक बुद्धि बुद्धि क्या होगी? यहाँ हम देखते हैं कि परम्परा में जो ज्ञान की चर्चा हो रही है वह कुछ ड़गमगाती है, क्योंकि उसके पास तीन ही कोटियाँ हैं। वह बेचारी क्या करे? अगर उसके पास तीन ही कोटियाँ हैं तो तीन से ही काम चलाना पड़ेगा। लेकिन हमें यह दिखता है कि इन तीन कोटियों से हमारा काम नहीं चलने वाला है, इसलिए कुछ और कोटियाँ बनानी पड़ेंगी, नये रूप में सोचना पड़ेगा। पर इस संदर्भ में यदि हम सांख्य के चिन्तन को उसके असली रूप में अपनाने की चेष्टा करें तो वह विचार की एक ऐसी दिखा खुलेगी जो हमें चौंका देगी, क्योंकि उसके अनुसार शुद्ध-सात्विक या शुद्ध-राजसिक या शुद्ध-तामसिक कुछ नहीं होता। ये एक ही प्रकृति के तीन पक्ष हैं और ये तीनों पक्ष निरन्तनर परिवर्तनशील हैं। अगर आज रजस् का प्राधान्य है तो कल तमस का प्राधान्य होगा, फिर कल यदि तमस का प्राधान्य है तो परसों सात्विक प्रकृति का प्राधान्य होगा। पर ऐसा मानने से हमें पुरुषार्थ-चिन्तन के लिए नई परेशानी होगी और वह कि हम किसी भी स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करें वह उस स्थिति में बहुत देर तक वैसी ही नहीं रहेगी। उसमें अनिवार्य रूप से परिवर्तन आएगा, जो हमारे अपने हाथ की बात नहीं है, क्योंकि सांख्य के अनुसार प्रकृति का स्वभाव ही यह है। वह वैसा हमेशा नहीं रहेगा। कल का प्राधान्य रजस होगा, और परसों तमस का। फिर क्या मैं ऐसा मानकर चलूँ कि सत, रज और तम के बारे में मेरी जो समझ है, उसमें मुझे परिवर्तन करना होगा, फिर ऐसा सोचना पड़ेगा कि नहीं। रजस और तमस बुरे नहीं हैं, उनकी भी प्रकृति में उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि जिसे हम 'सात्विक' कहते हैं उसकी। केवल सात्विक है, वह ही अच्छा नहीं होगा। अगर तीनों जो आज सत्य प्रधान हैं, प्रत्येक वस्तु के अनिवार्य अंग हैं। अगर अनिवार्य अंग हैं तो फिर अच्छे-बुरे का सवाल कैसे पैदा होगा? पर फिर धर्म का क्या होगा? क्या है उसका औचित्य? धर्म के विचार से हम चले थे कि धर्म मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण है और धर्म के पुरुषार्थ की भी चर्चा की थी। इसके साथ ही हमने शरीर, मन और बुद्धि के पुरुषार्थ की भी बात उठाई थी, यही नहीं, इनके स्थूल और सूक्ष्म रूपों की भी इनमें सात्विक, राजसिक और तामसिक भेदों की ओर इशारा किया था। परन्तु सांख्य के संदर्भ में इस भेद को समझने के प्रयास में हमें लगा कि अगर सांख्य की बात को स्वीकार कर लें तो पुरुषार्थ की बात ही खत्म हो जाएगी, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अगर हम मनुष्य को शरीर, क्योंकि वे सब 'विषय' रूप हैं। इसलिए लगता है कि हमें परम्परागत विचार में कुछ मूलभूत परिवर्तन करना पड़ेगा अगर हम मनुष्य के इन सारे आयामों को स्वीकार करना चाहते हैं और उनके भिन्न-भिन्न पुरुषार्थ के ऊपर कोई सार्थक चिन्तन करना चाहते हैं। फिर हमने पुरुषार्थ की बात की और इन सबके अलग-अलग पुरुषार्थ की समस्या उठाई कि इन पुरुषार्थों में से केवल धर्म ही पुरुषार्थ है, हालांकि कुछ लोग उसको ही पुरुषार्थ मानते हैं और अन्य लोग केवल मोक्ष को या भक्ति को। परम्परा में धर्म और मोक्ष के अलावा अन्य पुरुषार्थों

पर भी चिन्तन हुआ है। उदाहरण के लिए महाभारत में स्वयं श्रीकृष्ण ने काम-गीता कही है और एक अन्य स्थान पर यह चर्चा है कि पुरुषार्थों में सबसे बड़ा पुरुषार्थ कौन-सा है? वहाँ केवल युधिष्ठिर या विदुर ही मोक्ष की बात करते हैं बाकी तो सब अर्थ और काम को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। काम के बारे में एक और चिन्तन भगवद्गीता में भी हुआ है जहाँ निष्कम कर्म की चर्चा की गई है और यह बताने की कोशिश की गई है कि कर्म कैसे किया जाए कि वह बन्धन का कारण न बने। तब पुरुषार्थ क्या है और कितने हैं और विभिन्न पुरुषार्थों के बीच क्या सम्बन्ध है इस सबकी कहानी लम्बी है और बड़ी भी। अब इसे कहाँ तक बढ़ाया जाए, इतने कम समय में, यह मेरे लिए एक सवाल है।

लेकिन यहाँ मैं बुद्धि के पुरुषार्थ की बात करना चाहूँगा चूंकि उसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। कल भी मैंने इस बात को कहने की कोशिश की थी कि हम सब जो यहाँ बैठे हैं, अधिकतर बुद्धि-केन्द्रित प्राणी हैं। बुद्धि को मैंने संस्कृति के केन्द्र-बिन्दु में रखा था और कहा था कि बुद्धि शास्त्र की रचना करती है लेकिन बुद्धि का स्वयं का पुरुषार्थ क्या है? उसके बारे में कोई चर्चा ही हमारी परम्परा में नहीं है। कहा गया है कि बुद्धि का काम विवेक करना है और वह नित्य और अनित्य का भेद करती है। लेकिन अनित्य का तो सबको पता है लेकिन जो नित्य है उसका किसी को पता नहीं है। यदि ऐसा है तो इनमें विवेक कैसे किया जा सकता है। विवेक उन दो वस्तुओं में होता है जिनके बारे में हमें पता होता है। विवेक में आप कहेंगे कि यह ऐसा है, वैसा है लेकिन नित्य और अनित्य का विवेक कैसे हो सकता है क्योंकि अनित्य का तो पता है और नित्य के बारे में केवल सोच सकते हैं। अगर सभी अनित्य हैं तो केवल अनित्यता ही 'नित्य' होगी। यह ठीक है कि हम सोच सकते हैं कि शायद इन सबसे अन्य कोई वस्तु हो जो नित्य हो लेकिन वह केवल हमारा कल्पित विषय मात्र होगी अनुभूत सत्य नहीं, हालांकि कुछ लोगों ने यह कहने की चेष्टा की है कि चेतना जो स्वयं इन अनित्य वस्तुओं का अनुभव करती है वह नित्य है, पर जिस चेतना का हमें अनुभव है उसमें तो सदा ही परिवर्तन होता रहता है और फिर मैं अचेतन अवस्था को भी प्राप्त होता हूँ जब मुझे कुछ पता नहीं होता और मैं यह कहता हूँ कि तब मैं बेहोश था मुझे कुछ पता नहीं था। इस पता नहीं होने को भी पता होना माना गया है और इसके आधार पर अद्वैत वेदान्त ने अपने चिन्तन की नींव रखी है। इसकी विस्तार से यहाँ चर्चा करने की जरूरत नहीं है लेकिन बुद्धि के पुरुषार्थ का जो प्रश्न हमने उठाया था उस पर थोड़ा और चिन्तन करना चाहिए। बुद्धि का पुरुषार्थ अर्थ नहीं हो सकता, काम नहीं हो सकता, धर्म भी नहीं हो सकता और मोक्ष भी नहीं हो सकता तो बुद्धि के बारे में किसी अन्य पुरुषार्थ की बात करनी पड़ेगी।

पुरुषार्थ हमेशा किसी का होता है और इसलिए वह अहं के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा है। जब 'अहंकार' शब्द का प्रयोग होता है तो वह लोगों में एक अजीब-सी

चेतना उत्पन्न करता है कि कितनी बुरी चीज है, अहंकार नहीं होना चाहिए। लेकिन अहंकार शब्द का यहाँ वह अर्थ नहीं है बल्कि गहरा अर्थ है कि जब तक मैं मनुष्य हूँ, जब तक आत्मचेतन प्राणी हूँ, तब तक उसे जो कुछ भी अनुभव होता है, उसके साथ यह लागू होता है कि यह मेरा अनुभव है–फिर यह सिद्धि किसकी हुई–मेरी हुई। यह ज्ञान किसे मिलेगा, मुझे मिलेगा, यह साधना किसकी है, यह मेरी है, पर यह कोई वैसा अहं नहीं है जिसे हम दोषयुक्त मानते हैं। यह तो सहज स्वाभाविक अहं है जो जब हमारी चेतना पर केन्द्रित होती है तब भी लगा रहता है क्योंकि जब चेतना दूसरे के हित के लिए हमेशा प्रयत्नशील होती है तो भी भावना यही होती है कि 'मैं' प्रयत्नशील हूँ, मैं किसी 'दूसरे' का हित कर रहा हूँ। मैं अपने भाषण में किसी पश्चिमी परम्परा की चर्चा अधिक नहीं करना चाहता लेकिन उसके बारे में जितना थोड़ा जानता हूँ, वहाँ जो इस सम्बन्ध में सार्थक बात है उसे उतनी ही कहने की कोशिश करूँगा। उस परम्परा में अहं के लिए 'आई' शब्द का प्रयोग किया जाता है। एक तरह से हम जो भी जानते हैं, महसूस करते हैं, संकल्प करते हैं, उसके साथ हमेशा I Know, I Fell, I Will लगा रहता है। अगर यह सत्य है तो जब तक 'मैं' हूँ, तब तक दूसरों से विलग हूँ, अन्य पुरुषों से विलग हूँ और इसलिए पुरुषार्थ की चर्चा में यह भी अनिवार्य रूप से आता है कि इन दूसरों से किस प्रकार का सम्बन्ध हो। दूसरे के प्रति जो उत्तरदायित्व उत्पन्न होता है, वह बिल्कुल उस उत्तरदायित्व से भिन्न है जो मेरा अपने प्रति होता है, पर ऐसा क्यों है? क्योंकि वह चेतन है, इसलिए मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं उसे दुःख न दूँ। लेकिन कुछ दूसरी बातें भी उत्पन्न होती हैं कि मैं उसके पुरुषार्थ की साधना में सहायक बनूँ। यहाँ जो नया पुरुषार्थ उत्पन्न होता है, क्या हमारी परम्परा में इस पुरुषार्थ के बारे में सोचा गया है कि जब मैं देखता हूँ कि मेरा पुरुषार्थ क्या है, दूसरे जो व्यक्ति हैं, जो मुझे विषय रूप में उपस्थित हो रहे हैं लेकिन वे स्वयं आत्मचेतन हैं तो मुझे एकदम पता लगता है कि वह भी पुरुषार्थ के सिद्धांत की प्रक्रिया में संलग्न हैं और मेरा यह धर्म है कि मैं इसमें उनकी सहायता करूँ। यहाँ एक नया धर्म उत्पन्न होता है कि मैं दूसरों की पुरुषार्थ-साधना में जितना सहयोग कर सकता हूँ, उतना करूँ। उसका 'प्रेय' पाने के लिए, और उसका 'श्रेय' पाने के लिए भी सहायता करूँ। जैसे यह उत्तरदायित्व उत्पन्न होता है, मेरी चेतना में एक परिवर्तन होता है, एक नए पुरुषार्थ का उदय होता है, उससे एक समाज की रचना होती है।

पर तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुरुषार्थ के विचार के संदर्भ में हम समाज के बारे में किस प्रकार सोचें? मेरे पास जो थोड़ा सा समय है, उसमें मैं आपके सामने कुछ ऐसे विचार रखना चाहता हूँ कि हमारे यहाँ समाज के बारे में बहुत चिन्तन हुआ है। पर जब पुरुषार्थ की बात होती है, हम किस मनुष्य की बात करते हैं, उस मनुष्य की जिसमें शरीर भी है, जिसमें बुद्धि भी है, जिसमें अहंकार भी है। और अगर हम कल्पना-शक्ति को मनुष्य का अनिवार्य अंग मानें तो यह सवाले पैदा होगा कि

उसका पुरुषार्थ क्या है? लोग कविता लिखते हैं। लोग उपन्यास लिखते हैं लेकिन जो लोग नहीं भी लिखते हैं उनमें भी कल्पना शक्ति होती है। ज्ञान में भी कल्पना-शक्ति का एक अंश होता है। जो लोग विज्ञान के बारे में जानते हैं, उन्हें मालूम है कि आज के विज्ञान के मूल में एक कल्पना-शक्ति काम करती है। उसकी प्रक्रिया कुछ इस प्रकार के सोचने से सम्बन्धित हो कि 'अगर ऐसा हो तो ऐसा होगा' और क्या-क्या हो सकता है। अगर हम यह मान लें कि उसके क्या नतीजे निकलेंगे तो फिर देखें कि क्या वास्तव में वैसे नतीजे सामने आते हैं या नहीं–यह एक बड़ी अनन्त संश्लिष्ट प्रक्रिया है आज के विज्ञान में, जिसकी मैं चर्चा नहीं करना चाहता। लेकिन मैं इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि खाली बुद्धि से काम नहीं चलेगा, खाली मन से भी काम नहीं चलेगा। मनुष्य के और भी आयाम हैं, उसमें दूसरी कई शक्तियाँ भी हैं जिनकी चर्चा होनी चाहिए। उनके अलग-अलग पुरुषार्थ हैं। हमें देखना है कि इन पुरुषार्थों के बीच में सम्बन्ध क्या है, क्या कोई प्रज्ञा ऐसी है जो इन सब पुरुषार्थों को एक साथ देखती है, एक साथ बाँटती है ताकि इनमें विरोध न हो। पुरुषार्थ के विरोध की बात परम्परा में है। परम्परा में धर्म की बात ही नहीं है, धर्म-संकट की बात भी है। सारा महाभारत धर्मसंकट में पड़ा हुआ है। इसी प्रसंग में मुझे एक बात याद आती है। जब संजय को धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर के पास भेजा था यह कहने के लिए कि तुम तो सात्विक हो इसलिए तुम्हें नहीं लड़ना चाहिए? दुर्योधन तो पापी है, उसकी बुद्धि कुबुद्धि है, वह इसलिए लड़ना चाहता है क्योंकि वह लोभ में पड़ा हुआ है, उसे राज्य चाहिए। लेकिन आपको तो नहीं चाहिए, आप वनवास क्यों नहीं ले लेते, आप क्यों युद्ध करना चाहते हैं? उसके उत्तर में युधिष्ठिर कहते हैं कि कुछ ऐसे संदर्भ होते हैं जब अधर्म ही धर्म होता है। ऐसे समय अधर्म धर्म हो जाता है। आप धर्म की परिभाषा के बारे में सोचिए। अगर महाभारत में युधिष्ठिर जो धर्म के पुत्र समझे जाते हैं, धर्मराज कहलाते हैं, वही धर्मराज ऐसा कह रहे हैं कि कुछ ऐसी अवस्थाएँ होती हैं जब धर्म करना अधर्म होता है और अधर्म करना धर्म होता है तो धर्म की बात बगैर धर्म-संकट के नहीं कही जा सकती। अगर धर्म की बात बगैर धर्म-संकट के नहीं हो सकती तो वह संकट और भी गहरा है क्योंकि हम उसमें पुरुषार्थ की खोज कर रहे थे। पुरुषार्थ के संदर्भ में हमसे कहा गया था कि धर्म व्यावर्तक लक्षण है। अब हमें कहा जा रहा है कि धर्म को धर्म-संकट के बिना समझा ही नहीं जा सकता।

पर धर्म-संकट क्या है, धर्म-संकट को विचार को केन्द्र बिन्दु बनाइए। पर यह तो धर्मों में विरोध की बात करता है जबकि हम पुरुषार्थों में विरोध की बात कर रहे थे। क्या पुरुषार्थों में विरोध नहीं है? धर्म और मोक्ष के विरोध के बारे में इतना चिन्तन हमारे यहाँ हुआ है, कल मैंने कहा था कि कुछ संदर्भों में हमारे विचारकों ने कहा है कि नहीं, कोई अगर मुमुक्षु है तो राजा को उसे अमात्य नहीं बनाना चाहिए और राजा के लिए क्या कहा गया है–क्या राजा को मुमुक्ष होना चाहिए? कम से कम शास्त्रों में तो यह लिखा है कि नहीं होना चाहिए–बल्कि साफ लिखा हुआ है कि उसे वन में नहीं

जाना चाहिए, वानप्रस्थ नहीं लेना चाहिए। इतना ही नहीं, आप देखिए कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही नहीं बल्कि अनेकानेक ग्रन्थों में यह लिखा हुआ है कि जो व्यक्ति एक ही पुरुषार्थ का सेवन करता है या उसकी साधना करता है, अन्य पुरुषार्थों को नकारता है तो वह अपने को ही नष्ट नहीं करता बल्कि दूसरों को भी नष्ट करता है। अगर हम पुरुषार्थ के रूप में केवल धर्म की ही साधना करते हैं या मोक्ष की ही साधना करते हैं या काम की अथवा अर्थ की ही साधना करते हैं तो आप अपने को ही नष्ट नहीं करते बल्कि दूसरों को भी नष्ट करते हैं। अब सवाल है कि पुरुषार्थ का समन्वित रूप क्या है? समन्वित रूप में समझिए कि चारों उसके अंगमात्र हैं। उसे कैसे समझें? अगर ऐसा है तो धर्म और मोक्ष के बारे में इतना चिन्तन क्यों है? उनमें विरोध होगा ऐसा माना गया है। कुछ लोग ऐसा नहीं मानते हैं लेकिन कुछ मानते हैं। कहने का अर्थ यह है कि पुरुषार्थों के बीच संबंध क्या है, कौन सी शक्ति है, कौन सी प्रज्ञा है जो फैसला करती है कि इन पुरुषार्थों के बीच संबंध क्या होना चाहिए? इन्हीं सब बातों के परिप्रेक्ष्य में हमें आज के संदर्भ में नया चिन्तन करना चाहिए। यही कहने की मैंने चेष्टा की है।

जब पुरुषार्थ की बात होती है, तो कर्म की बात होती है, संकल्प की बात होती है, स्वतंत्रता और स्वातंत्र्य की बात होती है कि मैं चयन कर सकता हूँ, मुझे चयन करना चाहिए, मुझमें शक्ति है, बल है। लेकिन कर्म की जब बात करते हैं तो एक समस्या और उत्पन्न होती है। हमारे यहाँ कर्म पर बहुत विचार हुआ है और इतना विचार हुआ जितना शायद किसी दूसरी सभ्यता या संस्कृति में नहीं हुआ है। कर्म पर विचार दो दिशाओं में जाता है–वह एक दिशा तो लेता ही है, लेकिन जो नहीं लेता है जिस पर अधिक विचार नहीं हुआ है उसकी भी मैं चर्चा करना चाहूँगा। पहली दिशा के बारे में सबको पता है कि कर्म का फल होता है। हम जो कर्म करते हैं वह बंधन का कारण होता है क्योंकि कर्म का फल आपको अवश्य मिलेगा। जैसा करोगे वैसा भोगोगे, भोगने से बच नहीं सकते। यह विचार हमें किस दिशा में ले जाता है? इस कर्म का स्वत्व क्या है? देखिए, कर्म के दो पक्ष हैं जिन पर चिन्तन नहीं हुआ है। कर्म का स्वत्व क्या है? अगर मैं ही अपने किए कर्म का फल भोग सकता हूँ तो वह कर्म मेरा होना चाहिए। अगर वह कर्म मेरा है तो 'मेरे' होने का अर्थ क्या है? मैं यहाँ इस बात को इसलिए बढ़ा रहा हूँ कि यहाँ बड़े विद्वान लोग बैठे हैं, वे मुझे बाद में बताएँ कि क्या मैं ठीक कह रहा हूँ या गलत कह रहा हूँ कि अनेकानेक जो कर्म हैं उनमें स्वत्व का निर्णय बहुत कठिन है। क्योंकि बहुत से कर्म तो ऐसे हैं, उन्हें कोई एक अकेला व्यक्ति कर ही नहीं सकता। हम सब मिलकर काम करते हैं, और बहुत ही कम ऐसे काम हैं जिन्हें कोई अकेला कर सकता है। इसलिए जो सामूहिक कर्म हैं, उनके स्वत्व का निर्णय कैसे किया जाएगा। और सामूहिक कर्म से ही समाज और राज्य बनते हैं, उस सामूहिक कर्म का स्वत्व कैसा होगा, उसका फल कैसे बंटेगा क्योंकि जो कर्म हम सबने मिलकर किया है उसका फल किस आधार पर बंटेगा।

यज्ञ में ऋत्विक काम करते हैं, ऋत्विक यज्ञ कराते हैं। यजमान संकल्प करता है, उनको धन से खरीदता है, इस संदर्भ में 'कीव' शब्द का प्रयोग ऋत्विकों के लिए किया गया है। पर उस यज्ञ का फल यजमान को मिलता है, कुछ यज्ञों में फल का एक भाग ऋत्विकों को भी मिलता है पर साधारणत: ऐसा नहीं है। पर प्रश्न यह नहीं है कि लिखा क्या है, प्रश्न यह है कि अगर कोई कर्म सामूहिक है तो उसका फल भी सामूहिक होना चाहिए। कर्म का जो स्वत्व है, उस पर चिन्तन बहुत कम हुआ है और हुआ हो तो मुझे जानकारी नहीं है लेकिन जब तक इस पर चिन्तन नहीं होगा, हम कर्म के चिन्तन को आगे नहीं बढ़ा सकते।

अब इसका दूसरा पक्ष देखिए कि जहाँ हमारे चिन्तन ने एक अजीब दिशा ली है कि वास्तव में अगर संसार धर्म की दृष्टि से ठीक होना है तो यह संसार ऐसा होना चाहिए कि मुझे किसी दूसरे के लिए कर्म का फल न भोगना पड़े अन्यथा संसार में बड़ा अन्याय होगा। क्योंकि अगर कर्म कोई करता है और उसका फल किसी दूसरे को मिलता है तो उससे बड़ा अधर्म क्या होगा? पर अगर हम यह मानें कि मेरे किए का फल केवल मुझी को मिलेगा किसी अन्य को नहीं तो मुझे यह भी मानना पड़ेगा कि जो कुछ भी सुख-दु:ख मुझे होता है उसका कारण केवल मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं। और अगर मुझे ऐसा प्रतीत होता कि कोई अन्य मेरे सुख-दु:ख का कारण है तो यह वास्तव में एक भ्रम है जिसका मुझे निराकरण करना चाहिए। पर अगर ऐसा है तो मैं भी किसी 'अन्य' के सुख-दु:ख का कारण नहीं हो सकता और यदि ऐसा है तो फिर कर्म के शुभ-अशुभ होने का आधार ही क्या रह जाएगा? हम सब एक-दूसरे के सुख-दु:ख के कारण नहीं होंगे केवल निमित्त-मात्र होंगे। वास्तव में तो प्रत्येक के किए का कर्म ही उस सबका कारण होगा जो वह भोगता है और जो वह भ्रम के कारण यह समझता है कि उसके सुख-दु:ख का कोई दूसरा कारण है। आपने मुझे सुख दिया तो मुझे यह भ्रम होता है कि सुख आपके से ही हुआ है पर वास्तव में ऐसा नहीं है। मैं अपने ही किए कर्मों का फल भोग रहा हूँ। इससे एक नतीजा निकलता है कि अगर आप मेरे सुख-दु:ख का कारण नहीं हो सकते और इसलिए मुझमें यह भावना उत्पन्न होती है कि आप मेरे सुख-दु:ख का कारण हैं तो कहीं मैं बहुत भारी गलती कर रहा हूँ। लेकिन इससे एक और नतीजा भी निकलता है और वह यह कि मैं भी आपके सुख-दु:ख का कारण नहीं हो सकता। पर अगर मैं आपके सुख-दु:ख का कारण नहीं हो सकता तो आप देखिए कि जो उत्तरदायित्व मैंने महसूस किया कि मैं चेतन प्राणी हूँ, स्वचेतन प्राणी हूँ मेरा धर्म है कि मैं आपको दु:ख न दूँ, सुख दूँ। या आपको अपने पुरुषार्थ की साधना में मदद करूँ तो यह उसे भी मानना पड़ेगा। लेकिन ऐसा हम कैसे मान सकते हैं कि मैं आपके लिए कुछ कर ही नहीं सकता। मुझे तो यह धर्म मिला था कि मैं आपके लिए कुछ करूँ, मेरी चेतना परहित-केन्द्रित बने। लेकिन कर्म का सिद्धान्त अब उसे यह मानने पर मजबूर करता है कि यह तो भ्रम है कि मैं

आपके लिए कुछ कर सकता हूँ या आप मेरे लिए कुछ कर सकते हैं। हमने सोचा था कि संसार के बारे में ऐसा सोचें जिसमें अन्याय न हो।

आप समझने की कोशिश कीजिए कि कर्म पर इस विचार की प्रक्रिया ने मुझे कहाँ लाकर खड़ा कर दिया है? न मैं दूसरों के लिए कुछ कर सकता हूँ और न दूसरे मेरे लिए कुछ कर सकते हैं। तो यह कैसा संसार बना, यह तो बहुत बेकार संसार है जहाँ धर्म हो ही नहीं सकता। आपके कर्म की भावना ने, कर्म के चिन्तन ने आपको ऐसी दशा में लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ समाज के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता।

परन्तु कर्म का एक आयाम और भी है जिसे हम अंगअंगीभाव या अवयव-अवयवी भाव कह सकते हैं। यज्ञ के बारे में मीमांसा में इस पर चिन्तन हुआ है। अगर आप सोचें तो यह चिन्तन हमें एक अन्य दिशा में ले जाता है कि कर्म का जो अवयव-अवयवी भाव है, वह कैसे कर्म के नए-नए क्षेत्रों को जन्म देता है?

अब, जरा देखिए कि हम किस परेशानी में पहुँच गए हैं जो हमारे विचार ने हमारे लिए उत्पन्न की है। कर्म की भावना हमारे धर्म से जुड़ी हुई है और कर्म पुरुषार्थ से जुड़ा हुआ है। और पुरुषार्थ स्वातंत्र्य से जुड़ा हुआ है पर कर्म के बारे में जब हम सोचने बैठें तो ऐसे नतीजे पर पहुँचे जो किसी को स्वीकार नहीं हो सकता–मैं आपके लिए कुछ नहीं कर सकता, आप मेरे लिए कुछ नहीं कर सकते–जब एक-दूसरे के लिए कोई कुछ नहीं कर सकता तो समाज और राज्य कैसे बनेगा? आपका जो सामाजिक चिन्तक था, राजनैतिक चिन्तक था, जिसकी कभी चर्चा ही नहीं होती है, उसने कर्म के बारे में भिन्न प्रकार से चिन्तन किया–उनका कहना था कि ये सोचने की दिशा ही गलत है। अगर हमें समाज को बनाना है, अगर हमें राज्य को ठीक करना है तो हमें कर्म के बारे में भिन्न प्रकार से चिन्तन करना होगा। इस बारे में उन्होंने क्या कहा है? एक ओर तो उन्होंने राज्य को जो कुछ भी समाज या राज्य में होता है उसका मूल कारण माना। इस संदर्भ में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'राजा कालस्य कारणम्'। पर 'राज्य' का अर्थ क्या होता है? राज्य का आशय उन सब व्यक्तियों से है जो राज्य-धर्म का परिपालन करते हैं या जिनके पास राज्य को चलाने का उत्तरदायित्व है। काल का अर्थ यहाँ समाज या संस्कृति की उस स्थिति से है जो किसी भी समय पाई जाती है। और इसलिए यह कहा जा रहा है कि समाज या संस्कृति की जो भी अवस्था है उसके लिए वे लोग उत्तरदायी हैं जो उस राज्य की व्यवस्था को चलाते हैं या जिन पर उसको चलाने का उत्तरदायित्व है। अब राज्य का कर्त्तव्य क्या है? जिसे अंग्रेजी में 'पोलिटिकल फंक्शन' कहते हैं। इस संदर्भ में जो हमारे यहाँ विचार हुआ है उसमें यह कहा गया है कि प्रजा जो कर्म करती है, पाप-पुण्य करती है, उसक छठवाँ भाग या चौथाई भाग राजा को मिलता है–समाज की यह नई परिकल्पना है कि हम जो कुछ भी करते हैं वह राजा के अपना धर्म निभाने पर आश्रित है या दूसरी तरह से कहें तो जो लोग 'पोलिटिकल फंक्शन' Exercise

करते हैं या राजकर्म करते हैं, उन समाज अपने कर्म के लिए आश्रित होता है। यह राजकर्म-केन्द्रित विचार है, समाज को राज्य से विलग नहीं किया जा सकता, हमारे कर्म की स्थिति, हमारे पुरुषार्थ की स्थिति, हमारे पाप और पुण्य की स्थिति राज्य पर आश्रित है। अगर हम इस बात को देखें तो इस बात पर ध्यान दें तो इसमें परस्पर आश्रितता की भावना मिलती है। हम एक-दूसरे पर आश्रित नजर आते हैं। आपको आश्चर्य होगा कि पुरुषार्थों पर विचार के संदर्भ में अन्योन्याश्रितता की बात कही गई है कि सब पुरुषार्थ एक-दूसरे पर आश्रित हैं परन्तु यह बात पुरुषार्थों को एक अन्य दृष्टि से देखने पर उत्पन्न होती है लेकिन जिन लोगों ने पुरुषार्थों को अन्योन्याश्रित माना, उन्होंने भी यह नहीं देखा कि मेरी पुरुषार्थ-साधना किसी अन्य के अपने पुरुषार्थ पालन पर निर्भर करती है और इसलिए उस पर आश्रित है। पर यह सवाल उठता है कि क्या इन सब अन्योन्याश्रितता का कोई मूल केन्द्र-बिन्दु है। उसको हमारे विचारकों ने राज्य की सत्ता में केन्द्रित माना था। अगर राज्य ठीक नहीं चलता तो हम अपने-अपने पुरुषार्थ का पालन नहीं कर सकते, हम धर्म का पालन नहीं कर सकते। धर्म के पालन के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है कि राजधर्म का पालन ठीक तरह से किया जाए–'राजा कालस्य कारणम्' – और जो प्रजा है, प्रजा का जो पाप और पुण्य है, राजा उसका भागी है, कर्म के बारे में यह एक नया विचार है। यह कर्म उस प्रकार का नहीं है, जिसे हम कर्म का सिद्धांत कहते हैं, कर्मफल का सिद्धांत कहते हैं–बल्कि यह एक समाज के बारे में चिन्तन है जो अन्योन्याश्रित है, जहाँ एक का पुरुषार्थ दूसरे के पुरुषार्थ में सहायक होता है, बाधक नहीं होता है, क्या इस विचार को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता?

अब मैं समाप्त करना चाहूँगा। वास्तव में यह एक नई दिशा थी, जिस पर विचार को आगे नहीं बढ़ाया गया है। समाज के संदर्भ में वर्ण पर विचार हुआ है और मैं इसके बारे में केवल एक ही बात कहूँगा कि वर्ण के बारे में विचार हमेशा पुरुष सूक्त रूप से लिया जाता है, लेकिन वास्तव में परम्परा ने पुरुष सूक्त को उस रूप में नहीं लिया है जिस रूप में उसे लेना चाहिए। पर अगर मैं इस पर चर्चा करूँगा तो वह चर्चा बहुत लंबी हो जाएगी लेकिन इशारा जरूर करना चाहूँगा। यजुर्वेद के तीसवें भाग में आप पढ़ें तो आपको आश्चर्य होगा कि उसमें कितनी जातियों के, कितने वर्णों के नाम गिनाए गए हैं, और उनका अंत किस प्रकार से होता है? 'अब्राह्मण: असूद: प्राजापत्य:' कि ये सब जो हैं, वे न तो ब्राह्मण हैं और न शूद्र हैं–यहाँ वैश्य और क्षत्रिय का तो सवाल ही नहीं है पर फिर भी प्रजापति की संतान हैं। अब सवाल है कि यह प्रजापति कौन है? प्रजापति वही है जिन्हें ऋग्वेद में कहा गया है–'कस्मयी देवाय: हविषा विदेहम्' किस देवता को हवि दें, अंत में कहा गया कि प्रजापति को दें–प्रजापति कौन है? जो इस जगत् की सृष्टि करता है। वर्ण के विचार को कैसे समझा जाए, कैसे आगे बढ़ाया जाय, यह वैसी ही बात है जैसे पुरुषार्थ के विचार की है। हम लोगों को परम्परा से जो कुछ मिला है, पहले तो हमें उसका पता ही नहीं है और जो कुछ भी पता है उसको हम इस तरह पकड़ कर बैठे हैं जैसे वह समाप्त हो

चुकी है उसमें कोई गति नहीं है, प्रवाह नहीं है, नदी की धारा की तरह उसमें आगे बढ़ने वाला कुछ भी नहीं है। जब तक हम उसके इस प्रवाहात्मक स्वरूप को नहीं समझेंगे, उसे नहीं अपनाएंगे, उसे आत्मसात् नहीं करेंगे, तब तक वह हमारे विचार का अभिन्न अंग नहीं बनेगी, जब तक हम उसकी इस प्रवाह प्रक्रिया में स्वयं अपने को केन्द्रित नहीं करेंगे ओर अपना यह उत्तरदायित्व नहीं समझेंगे कि हम अपनी स्वयं की शक्ति के अनुसार, अपनी बुद्धि के अनुसार, उसे कैसे आगे ले जाएँ, तब तक मैं समझता हूँ कि न हमें अपनी संस्कृति की अस्मिता की पहचान होगी और न अपनी अस्मिता की। ये बातें बहुत गहरी हैं। आप जिन्दगी में भारतीय होने के लिए चाहे त्यौहार मनाएँ, पूजा-पाठ करें, ध्यान करें, पर केवल इससे ही 'भारतीय' होना मुश्किल है। लेकिन ये सब अपने आप में ठीक हैं लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। मैं दोहराता हूँ कि यह नहीं हो सकता कि चिन्तन के क्षेत्र में तो किसी की सारी कोटियाँ पश्चिम की हों, सारी समस्याएँ पश्चिम की हों, सारे प्रश्न पश्चिम के हों। तो भी वह 'भारतीय' हो सकता है। अगर हमारी बुद्धि पश्चिम की धरोहर के संदर्भ में ही चलेगी तो भारतीयता नहीं रह सकती–अब रहनी चाहिए या नहीं, यह अलग प्रश्न है इसके बारे में मुझे यहाँ कुछ नहीं कहना है। लेकिन यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि केवल अध्यात्म, परम्परा, संगीत, नृत्य या केवल साहित्य या इन चीजों के माध्यम से आप अपनी संस्कृति को जीवित रख सकते हैं। संस्कृति को जीवित रखने के लिए आपको उस संस्कृति का विशाल बौद्धिक वैभव स्वीकार करना होगा, जो आपको ढाई हजार साल से विरासत में मिला है, उसे आपको आगे बढ़ाना होगा, अपनी बुद्धि के अनुसार अपनी क्षमता के अनुसार आगे बढ़ाना होगा।

❑

भारतीय दर्शन के तीन संप्रत्यय

भारतीय दर्शन अब तक पुरातनवादियों की ही रुचि का विषय रहा है, एक ऐसा विषय जो मृत और अतीत है, भारती विदों के पास सुरक्षित संभला हुआ, जिसकी प्रासंगिकता केवल प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन के संदर्भ में ही है। यह आज के दार्शनिक वातावरण में कोई स्थान नहीं रखता—सर्वथा नहीं, उतना भी नहीं जितना एरिस्टोटल और प्लेटो भी, और स्वयं भारत में भी नहीं जहाँ कि उचित रूप से इसको स्थान मिलने की आशा की जा सकती है। इस सब का दोष उन लोगों के माथे मढ़ा जाना चाहिए जिन्होंने इस विषय पर लिखा है और यह प्रभाव ड़ालने का प्रयत्न किया है कि भारतीय दर्शन वस्तुत: दर्शन नहीं है वरन् इससे कुछ भिन्न है—कुछ ऐसा जो दर्शन से अधिक गम्भीर एवं गहन है। निश्चय ही इसका स्वरूप ठीक वही नहीं है जो आजकल 'दर्शन' से समझा जाता है। यदि स्थिति वास्तव में यही है तो दार्शनिकों द्वारा, चाहे वे भारतीय हों अथवा पश्चिमी, इसकी उपेक्षा न्यायोचित है, क्योंकि स्वयं इसके प्रस्तोता यह उद्घोषणा कर चुके हैं कि इन दार्शनिकों के लिए यह किसी प्रयोजन का नहीं है।

भारतीय दर्शन की किसी भी पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर ही भारतीय दर्शन का विषय आत्मा की अन्तिम या चरम मुक्ति अथवा जिसे मोक्ष कहा जाता है, उद्घोषित किया गया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन लेखकों के मत में यह अनेकों में से एक वस्तु नहीं है जिनकी भारतीय दर्शन चर्चा करता है, वरन् उनके मत में यह मुख्य विषय है जिसके चारों ओर समस्त भारतीय दर्शन बुना हुआ है और केवल जिसके प्रकाश में यह अन्य दार्शनिक परम्पराओं की तुलना में अपना विशिष्ट अर्थ एवं अद्वितीयता प्राप्त करता है। इससे भी अधिक, यह दावा किया जाता है कि मोक्ष के संप्रत्यय के परिप्रेक्ष्य (पर्स्पैक्टिव) में ही भारतीय दर्शन कुछ अर्थ रखता है।

भारतीय दर्शन के प्रति यह दृष्टिकोण विशेषज्ञों और सामान्य लोगों में समान रूप से है। इस विषय पर लिखने वाले सभी इसे स्वसिद्धवत् (एग्जियम) मान कर चलते हैं, मानो इसकी स्थापना के लिए प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं है। वास्तव में, प्रथम दृष्टि में ही यह एक बड़ी समस्या प्रतीत होती है कि आखिर कैसे भारतीय